शोध मंथन Vol. XII No.IV Oct.-Dec. 2021 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com*

भारतीय दर्शन में मानव अधिकार की अवधारणा

प्राप्तिः 11.10.2021
स्वीकृतः 26.12.2021

डा० वन्दना उप्रेती (एसोसिऐट प्रोफेसर)
राजनीति विज्ञान विभाग
नारी शिक्षा निकेतन, पी०जी० कॉलेज, लखनऊ
ईमेलः *dr-vandanate@gmail.com*

सारांश

भारतीय परम्परा में अधिकार शब्द की व्याख्या प्रारम्भिक युग में नहीं मिलती परन्तु आदर्शवादी चिन्तन होने के कारण कर्तव्यों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में अधिकारों की भी योजना की गयी थी। जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष को निर्धारित करते हुए धर्म, अर्थ और काम को महत्व दिया गया। **धारयेति इति धर्मः** कहकर यह माना गया कि जीवन में वह कार्य जो ध ारण करने योग्य है वहीं धर्म है। धारण करने योग्य चीजों में सत्य अहिंसा आदि सद्गुणों को महत्व दिया गया जिससे अपने आप एक के कर्तव्य दूसरे के अधिकार बनते गये। वर्ण और आश्रम की व्यवस्था करते हुए कार्य के अनुसार वर्ण का निर्धारण किया गया। रूढ होने से पूर्व एक ही पिता की चार सन्ताने कर्म के अनुसार वर्ण को प्राप्त करतीं थीं। इसी प्रकार आयु के अनुसार आश्रम की व्यवस्था की गयी थी। 25 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करते करते पिता की आयु 50 वर्ष तक हो जाती थी और पिता के वानप्रस्थ के माध्यम से स्वतः ही पुत्र का गृहस्थ आश्रम में प्रवेश हो जाता था। इस प्रकार अपने आप अधिकारों की प्राप्ति हो जाती थी। बौद्ध युग तक आते–आते महिलाओं को पूजा का अधिकार मिल गया। इससे पूर्व वैदिक पूजा का अधि ाकार स्त्रियों को नहीं था परन्तु स्त्री के अधिकारों को ही महत्व देते हुए **यत्र नारियस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता** कहा गया होगा।

सम्राट अशोक ने सामाजिक अधिकार तथा मानवीय अधिकार का निर्धारण करते हुए अहिंसा को महत्व दिया यद्यपि उपर्युक्त सभी व्याख्याओं में अधिकार शब्द प्रयोग नहीं किया गया तथापि अप्रत्यक्ष रूपमें यह अधिकारों की ही व्यवस्था थी। इस्लामिक धर्म में पुरूष और स्त्री को समान अधिकार देते हुए धर्म की व्याख्या की गयी। अधिकार शब्द का प्रथम प्रयोग है नरी डेविड थ्योरी ने अपनी चर्चित पुस्तक **सिविल डिस ओबीडियेंस** में किया जिसका विस्तार टोलस्टाय लेनिन, महात्मा गॉधी और मार्टिन लूथर किंग ने पूर्ण सकारात्मक रूप से किया।

18वीं से 19वीं शताब्दी के मध्य तक कुछ विशिष्ट मुद्दे मानव के अधिकार के रूप में बिना अधिकार शब्द का प्रयोग किये गये उठाये गये थे। 1828 में राजा राममोहन राय ने **ब्रह्म समाज** की स्थापना की और 1829 में सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाते हुए इसे कानूनी रूप से अपराध घोषित कर दिया गया था। इसके उपरान्त अनेक सामाजिक संगठनों के लिए मानवाधिकारों के लिए आंदोलन किये जिसमें शिक्षा का अधिकर, छूआछूत का विरोध और आर्थिक समानता का अधिकार आदि शामिल हैं। 1918 में हसन इमाम ने मूल अधिकारों की चर्चा करते हुए कानून में भारतीयों के समानता के

अधिकार की मांग की। इसके पूर्व बाल गंगाधर तिलक ने स्वतंत्रता के अधिकार हेतु प्रबल आंदोलन किया था। भारतीयों का समर्थन करते हुए **एनी बेसन्ट** ने भी भारतीयों को ब्रिटिश व्यक्तियों के समान अधिकार की चर्चा की। 1927 में कॉग्रेस के अधिवेशन में सात मूल अधिकारों की जबरदस्त मांग की गयी। 1929 में बाल विवाह को कानून बनाकर रोका गया। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त 30 मानवीय अधिकारों को विश्वस्त रूप पर लागू किया गया जो आज प्रत्येक मानव को प्राप्त हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारतवर्ष में भी वह अधिकार जो अंग्रेजों द्वारा छीने गये थे, उन्हें भारतीय सरकार ने कानून बना कर वापस दिला दिये। जैसे 1871 में क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट के द्वारा अंग्रेजों ने कुछ जनजातियों को अपराधी व लुटेरा घोशित कर दिया था। 1952 में इस एक्ट को समाप्त करके उन्हें सामान्य जन होने का गौरव प्रदान किया।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार और उसकी रक्षा प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य बनकर सार्वभौमिक सत्यता का सूत्रपात कर रहा है। सम सामयिक दृष्टिकोण से मानवाधिकारों का सम्मान गॅभीर चिन्तन का विषय बना हुआ है। परस्पर सद्भाव द्वारा ही हम मानवाधिकारों की रक्षा के लिए अपनी ओर से गारण्टी दे सकते हैं। इस पेपर मे हम भारतीय दर्शनमें मानव अधिकारों के बारे में विश्लेषण करेंगे।

दार्शनिक, अध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक चिन्तन में चिन्तन की विषय वस्तु व्यक्ति और व्यक्ति की गरिमा ही रही है। मानवीय गरिमा ने नर–नारियों के बीच समान अधिकार छोटे–बड़े राष्ट्रों के बीच समान अधिकार की आस्था को ढृढ़ किया है। काल के इसी बिन्दु से व्यक्ति की गरिमा अधिकार मण्डित हो गयी और मानवीय अधिकार ही व्यक्ति की गरिमा को सर्वस्व मान लिया गया। भौतिक समृद्धि के दृष्टिकोण से देखें तो आज का समाज विकसित नजर आता है। किन्तु चरित्र की ओर आत्मा के सद्गुणों की दृष्टि से भयंकर ह्रास दिखायी देता है। इस नैतिक और आत्मिक पतन ने मानव के गरिमामय जीवन में संघर्ष को जन्म दिया। इस संघर्ष ने अनेक क्रान्तियों का प्रारम्भ किया। इस प्रकार औद्योगिक युग के प्रारम्भ के पश्चात अधिकारों का संरचनात्मक स्वरूप उभरने लगा और नागरिक और राज्य के सम्बन्धों का नियमन व्यक्ति के अधिकारों के आधार पर होने लगा।

मानव अधिकार का तात्पर्य

मानवीय गरिमा के पोषण के लिए जिन अधिकारों की आवश्यकता होती है उसे मानव अधिकार कहते हैं। मानवीय अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है। सभी विद्वानों के अनुसार ''अधिकार जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके बिना साधारणतया कोई व्यक्ति अपने उच्चतम स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सकता।''

हालैण्ड के अनुसार '' अन्य व्यक्तियों के कार्यों को अपनी शक्ति के स्थान पर समाज के बल द्वारा प्रभावित करने की व्यक्तिगत क्षमता को अधिकार कहते हैं।''

मैकन के मतानुसार ''अधिकार समाज के हितार्थ कुछ लाभदायक परिस्थितियां हैं जो नागरिक के वास्तविक विकास के लिए अनिवार्य है।''

ग्रीन के मतानुसार ''अधिकार वो शक्तियां हैं जिसकी लोक कल्याण के लिए मांग की जाती है और मान्यता भी प्राप्त हो जाती है।''

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कह सकते हैं कि मानव अधिकार का आशय उस न्यूनतम स्वतंत्रता से है, जो व्यक्ति को मिलनी चाहिए क्योंकि वह मनुष्य ही है जिनका एक निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत उपभोग करते हुए वे अपना विकास कर सके। जब व्यक्ति को अपनी अन्तर्निहित शक्तियों के प्रस्फुटन का समुचित अवसर नहीं मिलता है तो प्राप्त क्षमतायें अविकसित रह जाती हैं और उसका व्यक्तित्व कुंठित हो जाता है।

मानव अधिकार के लक्षण

1. मानवाधिकार मानव समूह का दावा है।
2. मानवाधिकार के सामाजिक दावे समाज में ही सम्भव हैं।
3. मानवाधिकार का स्वरूप कल्याण्कारी सेवा है।
4. मानवाधिकार का राज्य द्वारा संरक्षण किया जाता है।
5. मानवाधिकार के साथ कर्त्तव्य जुड़े होते हैं।
6. मानवाधिकार असीमित नहीं होते।
7. मानवाधिकार विकासशील होते हैं।

मानव अधिकार की आवश्यकता

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक न्याय की प्राप्ति हेतु मानव अधिकार की आवश्यकता पड़ती है। इन तीनों प्रकार का न्याय तीन शब्द स्वतंत्रता, (Liberty) समता (Equality) और बन्धुता (Feternity) में निहित है। स्वतंत्रता, राजनीतिक न्याय के समस्त आयामों का प्रतिनिधित्व करता है और बन्धुता मानवीय भ्रातत्व अथवा बसुधैव कुटुम्बकम् का प्रतिनिधित्व करता है। ये तीन शब्द मानवीय अधिकारों की आवश्यकता को परिलच्छित करते हैं।

मानवीय अधिकारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज से पांच सहस्त्र वर्ष पूर्व तक सामाजिक और व्यक्तिगत आचरण नितान्त धर्म के अधीन था। यद्यपि महाभारत के तत्काल पश्चात कल युग प्रारम्भ हो गया तथापि स्वयं कौटिल्य ने भी धर्म को वेद मूलक ही माना है और राज्य का आचरण धर्म के अनुसार निर्दिष्ट रहने पर बल दिया। यदि प्राचीन भारत की व्याप्ति कौटिल्य काल तक ही मानी जाय तो स्पष्ट है कि व्यक्ति समाज और तीनों के ही सन्दर्भ में नीति शास्त्रियों ने केवल कर्त्तव्यों का निर्धारण किया है। इनमें अधिकारों का कोई संकेत प्राप्त नहीं होताहै। समाज में वर्ण और आश्रम दोनों व्यवस्थाएं विद्यमान थीं और वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन से समपूर्ण समाज कर्त्तव्यों से आबद्ध था। इसी प्रकार पारिवारिक समूह में दाम्पत्य, सम्पत्ति उत्तराधिकार आदि जो आधुनिक युग के प्रबल और प्रखर अस्त्र हैं, उस काल के प्रमुख और प्रयोजनपरख कर्त्तव्य थे। अधिकार शब्द व्यक्ति के सम्बन्ध में एक मात्र प्रयोग भगवान श्रीकृष्ण के मुख से हुआ है किन्तु वहाँ भी ''अधिकार'' शब्द के प्रयोग में व्याकरण का चमत्कार है, क्योंकि वहाँ भी इसका शुद्ध सन्दर्भ कर्मव्येव अर्थात करणीयता की ओर उन्मुख है। सीधे शब्दों में व्यक्ति को वही करने का अधिकार है जो उसके लिए करणीय है। वैदिक काल में समाज अधिक संगठित नहीं था पुराणों में जिस सत्ययुग का वर्णन है वहाँ भूख और प्यास जैसी वृत्तियाँ विकसित नहीं हुयी थीं और व्यक्ति स्वच्छन्द निराधार भी स्वरूप और युवा रहता था। ऐसे सामाजिक परिवेश में अधिकार जैसी कोई धारणा थी ही नहीं।

उपनिषद काल में बृह दारण्यक उपनिषद और छान्दोगय उपनिषद के आख्यानों से प्रकट होता है कि इस काल में कोई कुलीन सम्भ्रान्त व्यक्ति जिसके पास भू–सम्पदा आ गई हो, राजा कहलाने लगा होगा। किन्तु वास्तविक शासन और संगठित व्यवस्था जैसा इनके पास कार्य विशेष होने का प्रमाण नहीं मिलता है। ये स्वयं जिज्ञासु हो कर वन की खोज मेंलगे रहते थे और ऋषियों मुनियों के साथ इनके आख्यान प्रसंग और संवाद चलते रहते थे। महाभारत तक कर्त्तव्य की सीमा का उल्लंघन न होने के कारण वहाँ कभी किसी अधिकार के प्रवर्तन का कोई आख्यान नहीं है।

अतः कर्त्तव्य के उल्लंघन से ही अधिकार की संकल्पना उत्पन्न हुयी होगी। उदाहरण के लिए वैदिक काल में स्त्रियों को भी ऋषि होने का अधिकार था। याज्ञवल्क्य ऋषि जब सन्यास आश्रम में प्रवेश करने लगे तो उन्होंने अपनी सम्पत्ति अपनी दोनों पत्नियों मैत्रेयी और कात्यायनी के मध्य विभाजित की। मैत्रयी को ब्रह्य विद्या और कात्यानी को अपनी चल और अचल सम्पत्ति का अधिकार दिया। मैत्रेयी ने जनक जैसे राजा के साथ ब्रह्य विद्या पर शास्त्रार्थ भी किया। स्त्रियों को समता का अधिकार भी था। स्त्रियों के गौरव और मातृत्व की गरिमा के अधिकार का एक उत्कृष्ट उदाहरण हमे जाबाला नाम की कन्या के प्रसंग से मिलता है। उसने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका पाठशाला में प्रवेश सत्यकाम जाबाला नाम से किया गया वह आजीवन अपनी माता के नाम से पहचाना गया। महाभारत काल में धर्मराज द्वारा द्रौपदी को ध्रुत क्रीडा पर लगा दिए जाने पर स्वयं द्रौपदी ने अपने अधिकार को चुनौती के रूप में प्रस्तुत किया था। न्याय प्राप्ति का अधिकार के प्रसंग में उदाहरणतः हम देखते हैं कि एक बार राजाभृग के समक्ष दो ब्राह्यण युवक न्याय याचना के लिए प्रस्तुत हुए परन्तु राजा के श्रवणार्थ आगमन में विलम्ब हो जाने पर उन न्याय याचियों ने राजा को ही श्राप दे डाला। इसी प्रकार जनक के पूर्वज निमि के पास भी एक महात्मा न्याय याचना के लिए गये। निमि सोये हुए थे, महात्मा ने क्रोधित होकर निमि को श्राप दे दिया। दोनो उदहरणों में स्वयं दण्डित करने की शक्तियां होने के बावजूद भी महात्मा दण्ड स्वयं नहीं देते थे वे न्याय के लिए राजा के पास पहुँचते थे। किन्तु स्मरणीय रहे कि ऋषि मुनियों द्वारा न्याय की याचनाएं किसी विशेष प्रयोजन के लिए हुआ करती थीं। उस समय व्यक्तिगत आरोप प्रत्यारोप नहीं होते थे और विवादों का जन्म नहीं होता था तो अधिकारों का प्रश्न ही नही उठता। भगवान राम के शासनकाल में पुरवासियों द्वारा लांछन लगया जाना वाक् स्वतंत्रता के अधिकार का उदाहरण है। यहाँ पर भगवान राम ने आत्मनिर्णय के आधार पर अपने कर्त्तव्य का पालन किया। अतः हम कह सकते हैं कि अधिकारों की अवधारणा कर्त्तव्यों की अवहेलना से प्रारम्भ हुई।

कर्त्तव्य और अधिकार दोनो ही सापेक्ष तत्व हैं और इनका स्वरूप आत्मगत है। जब भी जनसंख्या एक से दो हुई होगी तभी अन्य पक्ष के सह–अस्तित्व से पारस्परिक व्यवहार के निमित्त अधिकार और कर्त्तव्यों की सृष्टि हुई होगी। ये दोनों न केवल वस्तु अथवा व्यक्ति सापेक्ष रहे वरन् परस्पर भी सापेक्ष हो गये। अतः अधिकारों और कर्त्तव्यों का विकास एक ही मानव से उसके सामाजिक हो जाने के विकास का क्रम है।

पाश्चात्य चिन्तन में राजनैतिक चेतना का उदय यूनान में माना जाता है। प्लेटो और अरस्तु ने राज्य के स्वरूप का बीजमंत्र दिया। बैन्थम और मिल भी राज्य की आवश्यकता मे विश्वास करते थे। व्यक्ति की आवश्यकताओं के साथ–साथ राज्य की आवश्यकतामें शनैः–शनैः वृद्धि होती गयी। राज्य को एक समष्टि मानकर और व्यक्ति को यष्टि मानकर, यष्टि और समष्टि के प्रतिसमर्पण का

भाव चिन्तन में आने लगा। राज्य को एक समष्टि और समग्रता के स्वरूप में आंका गया और यह अपेक्षा की गई कि व्यक्ति अपनी इकाई में भी एक समष्टि की भांति अनुशासित रहे और समष्टि के अंग के रूप में समष्टि की नीतियों में सहयोग करे।

प्लेटो के दर्शन में सत्ता दार्शनिकों के पास और अरस्तु के दर्शन में सत्ता धनवानों के पास वर्णित है। दोनों ही स्थितियों में सत्ता का अधिकारी अल्पसंख्यक वर्ग ही है, शेश जनता की भागीदारी इसमें नहीं रह जाती है। शासन का कुछ लोगों के हाथों में रहना राजनैतिक पतन का द्योतक है, यह वर्ग भेद को जन्म देता है। अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्ग का शोषण करता है और उस पर अत्याचार करने लगता है। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक को काल्पनिक मानकर लॉज नामक ग्रन्थ में व्यक्तियों के स्थान पर विधि के शासन पर बल दिया है। सुकरात ने राजभवन में हर्ष के साथ विषपान किया क्योंकि यह विधि द्वारा पारित था।

कांट का दर्शन फ्रीडम ऑफ बिल में विश्वास करता है, उसने कहा कि मन की स्वतंत्रता का अधिकार मूल अधिकार है। काण्ट ने माना कि इससे भयावह और कोई स्थिति नहीं हो सकती कि एक व्यक्ति की इच्छा दूसरे व्यक्ति के अधीन हो। काण्ट के नैतिक दर्शन में कर सकता है और करना चाहिए में अन्योन्याश्रिता है। इस प्रकार मन की निःसीम स्वच्छन्दता होते हुए भी व्यक्ति वही करता है जो उसको करना चाहिए। काण्ट ने एक विश्वराज्य की परिकल्पना भी की है जो मन की स्वच्छन्दता और करना चाहिए के अंकुश में एक सामंजस्य स्थापित करती है। काण्ट की मन की स्वतंत्रता के अधिकार के सम्बन्ध में अन्तिम धारणा यही थी कि व्यक्ति वही कर सकता है जो उसे औरों से करने की अपेक्षा है। बैंथम और मिल के अनुसार प्रकृति ने मानव को दो सर्वोपरि प्रवृत्तियों के आधीन रखा है और वही सुख और दुःख मानव इन्हीं के आधीन व्यवहार करता है और वो इन्हीं अनुसार यह तय करता है कि क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है। बैंथम के अनुसार वह राज्य उत्तम राज्य है जो अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की व्यवस्था कर सके। अतः राज्यों द्वारा दिये जा रहे अधिकतम सुख और लघु सुख के द्वारा ही अधिकारों का प्रादुर्भाव हुआ। यदि राज्य न होता तो अधिकार का कोई अस्तित्व ही नही है। अधिकारों के वस्तुतः विश्व क्रांतियां हुयी हैं और उन क्रांतियों का मूल कारण राजा की दैवीय शक्तियां रहीं। इस सिद्धान्त ने राजाओं और अन्य क्रमिक सरदारों और समान्तों को विलासी और निरंकुश बना दिया। राजाओं के प्रति भारतीय संस्कृति में, भारतीय चिन्तन में ये दैवीय सिद्धान्त राजा के सदाचार के प्रतीक थे, उसके अधिकारों के नहीं। भारतीय चिन्तन में देवताओं के किन्ही अधिकारों का वर्णन किसी भी श्रुति में नहीं है। उनके कार्यकलापों, का शक्तियों का, वैभव का और सृष्टि में उनके योगदान का, कर्त्तव्यों का और उनकी विशेषताओं का वर्णन है।

भारतीय नरेश उन दैवीय गुणों को अपने आचरण में सटीक उतारकर जनता की जय–जयकार के अधिकारी होते थे। उसके विपरीत पाश्चात्य परिवेश में इस दैवी सिद्धान्त ने राजाओं को प्रजा का शोषक बना दिया और प्रजा त्राहि–त्राहि कर उठी। इसी युग से अधिकारों का स्वरूप विकसित और व्यवस्थित होने लगा और यथाशीघ्र भारतीय चिन्तन में भी अधिकारों का प्रादुर्भाव होने लगा। प्राचीन भारत लघु राज्यों का समुदाय मात्र था और सुशासन का मूल कारण राज्यों की लघुता और जनसंख्या की अल्पता थी। जनसंख्या की अल्पता के कारण समाज मेंव यवस्था सुदृढ़ थी। जनसंख्या की वृद्धि से अन्तर्जातीयता को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और वर्ण

संकीर्णता पनपने लगी। भारतीय परिवेश में भारतीय चिन्तन इसे ह्रास मानता है और पाश्चात्य चिन्तन इसे विकास। क्लेश का कारण भी यहीं से उत्पन्न हुआ। सभ्यता ने जब विज्ञान में प्रवेश किया तब वैज्ञानिक अविष्कारों ने उद्योगों को जन्म दिया और विश्व में अर्थतन्त्र छा गया। अर्थ के अनुचित संकेन्द्रण से श्रम का शोषण होने लगा। पूँजीवादी व्यवस्था से वर्ग भेद प्रबल हो गया और समाज दो भागों में विभक्त हो गया और दोनों वर्गो में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। विश्व की प्रमुख राज्य क्रांतियां सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक अन्याय के प्रतिकार के रूपमें घटित हुयी। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने अधिकारों को संरचनात्मकता प्रदान की और नागरिक और राज्य के सम्बन्धों का नियमन व्यक्ति के अधिकारों के आधार पर होने लगा। विश्वयुद्धों और औद्योगिक क्रान्तियों ने अधिकारों को सार्वभौमिक स्वरूप और प्रतिष्ठा दिलायी। इन्हीं अधिकारों के सम्मान में 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सर्वसम्मत से मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की। घोषणा में व्यक्ति के उन नागरिक राजनैतिक और धार्मिक अधिकारों का समावेश है, जिसके लिए मानव ने शताब्दियों तक संघर्ष किया। यह सार्वभौम घोषणा सभी देशों और सभी लोगों की समान सफलता है। इसका उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति और समाज का प्रत्येक भाग इस घोषणा को लगातार दृष्टि में रखते हुए अध्यापन और शिक्षा के द्वारा यह प्रयत्न करेगा कि इन अधिकारों और आजादियों के प्रति सम्मान की भावना जागृत हो, और उत्तरोत्तर ऐसे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय उपाय किए जाएँ जिनसे सदस्य देशों की जनता तथा उनके द्वारा अधिकृत प्रदेशों की जनता इन अधिकारों की सार्वभौम और प्रभावोत्पादक स्वीकृति दे और उनका पालन कराए।

भारत में एक ऐसा भी युग था जब समाज में पुरुषों और स्त्रियों के बीच कोई भेदभाव नहीं था। समाज में नारी पूज्य थी। माना जाता था–

यत्र नार्यस्तुपूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
यत्रेतास्तु न पूज्जन्तेसर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।

स्त्रियों को उच्चतम स्तर तक की शिक्षा का अधिकार था। महिलाएँ वेद की रचानाएँ करती थीं। विवाह उनकीस हमति से होता था। किन्तु धीरे–धीरे भारतीय समाज में लगातार हुए विदेशी आक्रमणों के कारण महिलाओं का कार्यक्षेत्र सीमित होता गया। लोगों को उनकी मर्यादा की रक्षा हेतु अनेक उपाय करने पड़े और इस तरह भारतीय समाज में महिलाओं के ऊपर बन्धन लगते गए तथा पुरुशों की प्रधानता बढ़ती गई। इसलिए वैज्ञानिकों ने भारतीय समाज के स्वरूप को पुरुष प्रधान की सत्ता प्रदान की। ब्रिटिश शासनकाल में उत्तरोत्तर काल में महिलाओं ने भी उच्च शिक्षा प्राप्त की। यद्यपि उनकी संख्या सीमित थी फिर भी गांधी–नेहरू काल में आजादी के लिए चलाए गए आन्दोलनों में इस पुरुष प्रधान देश में महिलाओं ने खुलकर भाग लिया।

जीवन का अर्थ गरिमामय जीवन है न कि मात्र पशुवत प्राण धारण करना। जीवन के अधिकार के अन्तर्गत जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति आहार, परिधान, आश्रय, शिक्षा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, स्वच्छन्द विचरण, सहजनों से सम्पर्क, मित्रों से भेट आदि चीजें जो जीवन को सरस बनाने के लिए उपयोगी हैं, और मनुष्य के अधिकार क्षेत्र में आती हैं।

उपरोक्त अधिकारों के संरक्षण में देश की सर्वोच्च विधि संविधान न्यायपालिका राष्ट्रीय एवं राज्यों में कारगर ढंग से सक्रिय है फिर भी मानव अधिकारों का उसी प्रकार हनन हो रहा है जिस प्रकार औषधि तथा उपचार होने पर भी रूग्णता में अभिवृद्धि होती है।

वर्ण व्यवस्था के लोप से बन्धुता क्षत–विक्षत हुई है जातियों और सम्प्रदायों ने प्रधान्यता प्राप्त कर ली है, तथा अनेकों वर्गों को आरक्षण की सुविधा से समाज पारस्परिक वैमनस्य के ज्वर से ग्रस्त हो गया है। आधिकारों के अतिशय में कर्त्तव्य तिरोहित हो गये हैं। भारत की प्राचीन व्यवस्था कर्त्तव्य प्रधान थी। व्यक्ति यदि कर्तव्यपरायण रहे तो व्यक्तियों के अधिकार स्वतः सुरक्षित रह सकेंगे। कर्तव्य में व्यक्ति के व्यक्तित्व की पूर्णता होती है और अन्तःकरण बलवान होता है और उच्चकोटि के समाज की उत्पत्ति होती है।

संदर्भ

1. चतुर्वेदी मधु मुकुल, भारतीय संविधान में व्यक्ति की गरिमा एवं मानव अधिकार, 2003, राज्य विकलांग हाउस, जयपुर, पृष्ठ–39,75,122,74, 105–117
2. त्रिपाठी, प्रदीप, मानवधिकार और भारतीय संविधान, संरक्षण एवं विश्लेषण, 2002 राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृष्ठ–13–15,27–32
3. दुबे, मधु मंजरी, मानव अधिकार : भारत के सांस्कृतिक एवं सांविधानिक परिप्रेक्ष्य में एक आलोचनात्मक विवेचन, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, पृष्ठ–07–10, 36–43,13, 157–168
4. प्रतियोगिता दर्पण, जून, 2015, पृष्ठ–93
5. देखिए–चुतुर्वेदी आर0जी0, स्टेट एण्ड राइट्स ऑफ मैन, मैट्रोपोलिटन, दिल्ली, पृष्ठ–135–136
6. डा0 बसन्तीलाल बावेल, मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, सुविधा लॉ हाउस, भोपाल
7. डा0 रामगोपाल चतुर्वेदी, सांविधानिक दर्शन में समता, स्वतंत्रता, बन्धुता, गरिमा व एकता, अनुसंधान व विषद अध्ययन संस्थान, पिंक कॉटेज, बी–41ज्योति नगर, 1990 पृष्ठ–118–119